

आलेख-

संस्कृति और जीवन मूल्य का स्वरूप और नई शती में सम्भावनाएं

—सत्यव्रत शास्त्री

पुरानी सहस्राब्दी अभी-अभी समाप्त हुई है और नई ने जन्म लिया है। इसकी प्रथम शताब्दी अंगड़ाई ले रही है। इस अवसर पर अनेक प्रश्न सभी चिन्तकों और विचारकों के मन में उठ रहे हैं। पहला है विगत शताब्दी की सफलताओं और विफलताओं के लेखे-जोखे की आवश्यकता का और उसके आधार पर कुछ नवीन चिन्तन का और उस चिन्तन को प्रयोग में लाने या न लाने का। यह नवीन चिन्तन जीवन के विभिन्न पक्षों को लेकर हो सकता है-संस्कृति, सामाजिक चेतना, साहित्य आदि।

प्रस्तुत आलेख में संस्कृति के विषय में चिन्तन का प्रयास किया जा रहा है। किसी भी देश या जाति के संस्कारों का पुञ्जीभूत रूप संस्कृति कहलाता है। देशों और जातियों की अनेकता के कारण संस्कृतियां भी अनेक होती हैं। संस्कृतियों की अनेकता में भी कतिपय मूल तत्व एक ही होते हैं। वे तत्व समस्त मानव जाति की संस्कृति को स्वरूप प्रदान करते हैं।

मानव की यह सहज प्रवृत्ति है कि वह अपने को दूसरे से उत्कृष्ट सिद्ध करना चाहता है। अपनी संस्कृति को वह दूसरों की संस्कृति की तुलना में अधिक अच्छी मानता है। नयी शती के मानव को इस सांस्कृतिक कठघरे में से बाहर आ अन्य संस्कृतियों को भी निकट से देखना परखना होगा जोकि आज के वैश्वीकरण में कठिन नहीं रह गया है। दूरियां इतनी कम हो गई हैं कि रूपक शैली में विश्व को एक गांव, global village की संज्ञा दी जाने लगी है। इस तथाकथित गांव के निवासियों की जीवनपद्धति, चिन्तनधारा और संस्कारों-कुसंस्कारों का परिचय पा जाना अब कोई असाध्य कार्य नहीं रह गया है।

रुडयार्ड किप्लिंग ने कहा था, पूरब पूरब है और पश्चिम पश्चिम। ये दो कभी मिलेंगे नहीं-The East is East, West is West. The twain shall never meet. उनकी इस उक्ति में अब कोई सार नहीं रह गया है। पूरब और पश्चिम दोनों ही मिले हैं, विशेषकर पूरब पर पश्चिम भारी पड़ता सा नज़र आ रहा है। यह नहीं कि पश्चिम से पूरब के लिए कोई विशेष उपादेय नहीं है, वहां की कर्मठता, समय तथा सुव्यवस्थित कार्य शैली अनुकरणीय हैं, पर वहां पारिवारिक विघटन, आत्म केन्द्रितता तथा उपभोक्तावाद आदि ऐसे तत्व हैं जिन्हें अपना पुरब के लिए हितकर नहीं हैं। पूरब के देशों में उनका पांव जमाना उनके हित में नहीं है।

आवश्यकता इस शती की है एक मिली-जुली संस्कृति की जहां पौर्वात्य और पाश्चात्य संस्कृतियों के श्रेष्ठ तत्वों के सङ्गम से मानव जाति लाभान्वित हो सके।

इसके लिए अपेक्षित है अतिवाद से ऊपर उठने की। सुप्रसिद्ध उक्ति है-‘अति सर्वत्र वर्जयेत्’, अति का हर जगह, हर स्थिति में परिहार करना चाहिये। यह उक्ति कह तो दी गई पर इसका पालन अधिकांश में नहीं हुआ जिस कारण अनेक विकृतियों ने जन्म लिया, दोनों ही संस्कृतियों, पौर्वात्य और पाश्चात्य, में।

सर्वप्रथम संयुक्त परिवार को ही लिया जाय। अच्छी कल्पना थी। परिवार के सब लोग एक साथ रहें, सुख-दुःख में उनका साथ उपलब्ध रहे। पश्चिम में सामाजिक सुरक्षा सोशल सिक्यूरिटी के रूप में शासन से जो उपलब्ध है वह इस व्यवस्था में परिवार से ही उपलब्ध थी। इससे केवल भौतिक सुख-सुविधा ही नहीं मिलती थी अपितु भावनात्मक, इमोशनल भी। इसमें वैधव्य या वृद्धावस्था का अकेलापन नहीं था, अपने ही लोगों के बीच रहने की ऊष्मा का अहसास था। साथ ही बीमारी, तंगहाली तथा अन्यान्य कष्टों के मध्य सक्रिय सहयोग का भी। पर जिस भावना से यह व्यवस्था प्रारम्भ हुई थी उसमें कालान्तर में विकृतियां आ गईं। परिवार के मुखिया ने सारा भार संभाला ही हुआ है यह जान अन्य सदस्यों को अकर्मण्यता ने आ घेरा। एक व्यक्ति या कुछेक व्यक्ति खटने लगे और दूसरे लोग उसकी/उनकी मेहनत पर पलने लगे। परिवारों में आगे बढ़ने की, इनीशिएटिव लेने की, प्रवृत्ति में कमी आने लगी। मुखिया में भी क्योंकि वह सारे तन्त्र का सञ्चालक था और इसका इसे बोध था, डिक्टेटर की प्रवृत्ति ने जन्म ले लिया। उसके दबदबे के कारण अन्य लोगों की बोलती बन्द होने से एक प्रकार की कुण्ठा परिवार के अन्य सदस्यों के मन में उपजने लगी जिससे परिवारों में अपेक्षित सद्भाव के अभाव ने असन्तोष और अन्तर्विरोध की पृष्ठभूमि में संयुक्त परिवार संस्था के ही विघटन का मार्ग प्रशस्त कर दिया। इसे बढ़ावा मिला अपना व्यक्तिगत जीवन अपने ढंग से जीने की बढ़ती लालसा से। फलस्वरूप अतिविस्तृत परिवारों *extended families* का स्थान ले लिया पश्चिम की तर्ज पर अति संक्षिप्त परिवारों *minisule families* ने जिनमें चाचा, चाची, ताऊ, ताई और उनके बच्चों की तो बात ही क्या अपने माता-पिता के लिये भी स्थान नहीं रहा। भाई-भाई से अलग हो गया, बहिन बहिन से, और भाई बहन एक दूसरे से। वैयक्तिक स्वतन्त्रता और अपना कैरियर बनाने की लालसा ने पत्नी को पति से दूर कर दिया जिसका परिणाम हुआ खण्डित परिवार और उपेक्षित बच्चे जो अनेक सामाजिक बुराइयों अथ च अपराध जगत् के चंगुल में फँसने से न बच सके। अब स्थिति यहां तक पहुंच चुकी है कि भारत जैसे प्राचीन देश में भी चिरन्तन विवाह प्रथा पर प्रश्न चिह्न लगने लगा है। विवाह न करा कर एक साथ रहने *live-in relationship* की प्रथा ने जो पश्चिम के देशों में असामान्य नहीं है भारत में भी पांव जमाने शुरू कर दिये हैं। बिना विवाह के यदि दाम्पत्य सुख भोगा जा सके तो वैवाहिक बन्धन की आवश्यकता ही क्या है, यह सोच आज के युवा-वर्ग में पनपने लगी है। ये कुछ चुनौतियां हैं जिनसे नई शती ने जूझना है और एक ऐसा रास्ता खोज निकालना है जिससे दोनों प्रकार के अतिवाद के स्थान पर मध्यमवाद स्थापित किया जा सके जोकि युगानुकूल होने के कारण सुग्राह्य हो।

किसी भी देश की संस्कृति में जहां पारिवारिक व्यवस्था का महत्त्व होता है वहां शिक्षा व्यवस्था का भी, प्राचीन भारत ने एक ऐसी शिक्षा व्यवस्था को अपनाया था जिसे सम्प्रति गुरुकुलीय पद्धति के

नाम से जाना जाता है। इसमें छात्र गुरु के घर अथवा आश्रम में जा कतिपय वर्ष-12 वर्ष-उसी के संरक्षण में रह विद्याध्ययन करता था। उसकी समस्त दिनचर्या पर गुरु का अङ्गुश होता था। उसी के अनुशासन में उसे जीवन बिताना होता था। जहां कड़े अनुशासन में रह विद्योपाजन का दायित्व छात्र का होता था वहां छात्रों की देखभाल, उनके भोजनादि की व्यवस्था और उन्हें सम्यक् शिक्षा प्रदान करने का दायित्व गुरु का होता था। केवल अध्यापक की ही भूमिका उसे नहीं निभानी होती थी, अपने सम्यक् आचार द्वारा छात्र के लिये अनुकरणीय आदर्श उपस्थित कर आचार्य की भी। आचार्य की परिभाषा भी यही है-आचार्यः कस्मात्? आचारं ग्राहयति, आचार्य को आचार्य क्यों कहा जाता है? इसलिये कि वह आचार (=सदाचार) सिखाता है। इससे इतना स्पष्ट है कि आचार (=सदाचार) सिखाने के लिये उसका स्वयम् आचारवान् होना आवश्यक है। जो स्वयम् आचारवान् नहीं है वह दूसरे को क्या आचार सिखायेगा? उसे तो स्वयम् आदर्श उपस्थित करना है। जिसके लिये आवश्यक है कठोर अनुशासन। सारा जीवन उसका कठोर अनुशासन में बंधा होता था। यही कारण था कि समाज में उसके लिये विशेष आदर था-इतना आदर कि वह ब्रह्मा, विष्णु, महेश यहां तक कि साक्षात् परब्रह्म तक मान लिया गया था—

गुरुर्ब्रह्मा गुरुर्विष्णुर्गुरुर्देवो महेश्वरः।

गुरुः साक्षात्परब्रह्म तस्मै श्रीगुरवे नमः॥

यह वह गुरु था जो ब्रह्मचारी को जो उसके पास पढ़ने के लिये आता था अपने भीतर गर्भ के रूप में समाविष्ट कर लेता था। आचार्यो ब्रह्मचारिणं गर्भं कृणुतेऽन्तः। यहां छात्र की गुरु में गर्भ के रूप में परिकल्पना सर्वथा अनूठी है। शायद ही अन्य किसी परम्परा में इस तरह की परिकल्पना हो। जिस प्रकार गर्भस्थ शिशु माता के शरीर का, न केवल शरीर का अपितु उसके सम्पूर्ण अस्तित्व का अभिन्न अङ्ग होता है, उसी से वह रस ग्रहण करता है, उसी से उसका पोषण होता है उसी प्रकार की स्थिति गुरु के लिए ब्रह्मचारी की थी। उसके छात्र के रूप में स्वीकार कर लिये जाने पर वह उसका हो जाता है, जिसका समस्त दायित्व उस पर आ जाता है जिसमें अपनी समस्त विद्या, अपना समस्त ज्ञान सङ्क्रान्त कर वह ऋषि ऋण से मुक्ति पा लेना चाहता था। इस ज्ञान के सङ्क्रमण के लिये यह आवश्यक था कि इतने अपनेपन के साथ जो छात्र गुरु के पास आये वह इसका अधिकारी भी हो। इसलिये अच्छी तरह जांच परख कर ही, विशेषकर उच्च अध्ययन के लिये, गुरु बालक को छात्र रूप में अङ्गीकार करता था। प्राचीन भारत का गुरु इस विषय में विशेष जागरूक था। यह जागरूकता बहुत प्राचीन काल से ही उसमें थी—

विद्या ह वै ब्राह्मणमाजगाम गोपाय मा शेवधिष्टेऽहमस्मि।

असूयकायानृजवेऽयताय तस्मै मा ब्रूया निधिपाय ब्रह्मन्॥

—संहितोपनिषद् ब्राह्मण, 3.

“विद्या ब्राह्मण के पास आई और कहने लगी-तुम मेरी रक्षा करो (अक्षरार्थ-मुझे छुपा लो), मैं तुम्हारी निधि हूं। ईर्ष्यालु कुटिलप्रवृत्ति के एवञ्च इन्द्रिय संयम रहित व्यक्ति को तुम मुझे मत देना, उसे ही देना जो निधि की रखवाली कर सके।”

अनेक बार यह शङ्का प्रस्तुत की जाती है कि क्या कारण है कि हमारा बहुत सा ज्ञान जिसका अनुमान प्राचीन ग्रन्थों से लगता है आज लुप्त है। राम को अपने आश्रम की ओर ले जाते समय मार्ग में महर्षि विश्वामित्र ने उन्हें बला और अतिबला नाम के वे मन्त्र सिखाये थे जिनसे न थकान होती थी, न ज्वर, न ही चेहरे का रंग बदलता था और न ही भूख और प्यास लगती थी—

मन्त्रग्रामं गृहाण त्वं बलामतिबलां तथा।
न श्रमो न ज्वरो वा ते न रूपस्य विपर्ययः।
क्षुत्पिपासे न ते राम भविष्येते कथञ्चन॥

—रामायण, बालकाण्ड, 22.13, 18

ये बला और अतिबला क्या थीं यह आज कोई जानता नहीं। सञ्जीवनी बूटी क्या है इसकी भी जानकारी नहीं है। विशल्यकरणी जिससे धंसा हुआ बाण स्वयं से बाहर आ जाता था और सन्धानकरणी जिससे घाव तत्काल भर जाता था औषधियां सम्प्रति हमारी ज्ञान की परिधि से बाहर हैं। यही स्थिति कायाकल्प, पर-काया-प्रवेश एवं उन रसायनों की है जिनके द्वारा धातु का स्वरूप बदल दिया जाता था या गगन-मण्डल में विचरने वाले उन विमानों की है जिनके भूमि पर उतरने के समय की स्थिति का आज के वायुयान के भूमि पर उतरने की स्थिति के ठीक समान ही वर्णन कालिदास ने अभिज्ञानशकुन्तल में किया है। यह जिज्ञासा होना स्वाभाविक है कि आखिर यह ज्ञान गया कहाँ? इस जिज्ञासा का समाधान उपरिनिर्दिष्ट मन्त्र ही कर देता है। विद्या पात्र को ही दी जाय-पात्रप्रतिगता विद्या पात्रप्रतिगतं धनम्-इस पर इतना आग्रह रहा कि उपयुक्त पात्र न मिलने पर विद्या दी ही नहीं गई और वह गुरु के साथ ही चली गई। विद्यार्थी से गुरु ने कुछ लेना तो होता नहीं था, सब कुछ देना ही होता था, अतः वह उसके ज्ञानार्जन की तीव्र उत्कण्ठा की परीक्षा कर ही उसे शिक्षा देता था। मैं स्वयं इस परीक्षा में से गुजरा हूँ। इस सन्दर्भ में मेरा एक संस्मरण है जो इस प्रकार है—

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में मैं पी-एच.डी. के लिए शोध कर रहा था। मेरा विषय वाक्यपदीय से सम्बद्ध था-व्याकरण का अत्यन्त जटिल एवं दुरूह ग्रन्थ। उसे समझाने वाले पूरे काशी में भी शायद दो एक ही होंगे। उन दो एक में थे श्री रघुनाथ शर्मा पाण्डेयजी। वे कबीर चौरा मठ में रहते थे और मैं विश्वविद्यालय छात्रावास में। वाक्यपदीय पढ़ने की इच्छा से मैं एक दिन उनके पास पहुँचा। उन्होंने कहा कि वे पढ़ायेंगे और मुझे अगले दिन तीन बजे दोपहर में आने को कहा। अगले दिन तीन बजे मैं पहुँच गया। वे सोये हुए थे। चार बजे, पांच बजे, साढ़े पांच बजे। उनकी नींद खुली। उन्होंने मुझे देखा और बोले, आज आंख लग गई, अब तो बहुत देर हो गई है। तुम कल आ जाना तीन बजे।' मैंने साइकिल लिया और विश्वविद्यालय पहुँच गया। कबीर चौरा से विश्वविद्यालय का छात्रावास लगभग पन्द्रह-सोलह किलोमीटर दूर है। वाहन मेरे पास केवल साइकिल ही थी। तीसरे दिन ठीक तीन बजे जब मैं कबीर चौरा पहुँचा तो वे मुझे रास्ते में ही मिल गये। मेरी ओर देख कर बोले, 'तुम आ गये। आज तो एक जगह सत्यनारायण की कथा बाँचने जाना है। तुम कल आ जाना तीन बजे।' बिना कुछ कहे मैं लौट गया और अगले दिन फिर उपस्थित हो गया। यह चौथा दिन था। इसी प्रकार आते जाते पांचवें दिन जब पहुँचा तो देखा गुरु जी भोजन बना रहे हैं। मुझे देखते ही बोले, 'आज तो पाठ नहीं हो सकेगा। खाना बनाना है। फिर विश्राम भी करना है। तुम कल आ जाना तीन बजे।' अगले दिन तीन बजे जब मैं पहुँचा तो वे प्रतीक्षा

करते पाये गये। पढ़ाने लगे। चार बज गये, पांच बज गये, छः बज गये, सात बज गये। वे हैं कि पढ़ाते ही जा रहे हैं। अंधेरा हो गया। लालटेन जला ली। पाठ चल ही रहा था। मैं बुरी तरह थक गया था। वाक्यपदीय जैसा जटिल ग्रन्थ था। मैं अपनी थकावट नहीं प्रकट करना चाहता था। अतः बोला, 'गुरु जी समय बहुत हो गया है, आप थक गये होंगे।' वे बोले 'नहीं, चलते चलो।' फिर कुछ देर रुके। शायद उन्हें लगा कि सुकुमारमति बालक, इतना कुछ एक साथ कैसे ग्रहण कर पायेगा। बोले- 'अच्छा। आज इतना ही। बाकी कल करेंगे।' इसके बाद मुझे कभी खाली हाथ वापस जाना नहीं पड़ा। गुरु जी मेरी प्रतीक्षा में ही पाये गये। अनेक दिन मुझे वापस लौटाकर वे मेरी परीक्षा लेना चाहते थे कि क्या वास्तव में मुझे कुछ ग्रहण करने की इच्छा है या नहीं और बार-बार लौटाने पर मैं बौखला तो नहीं जाता। जब उन्होंने परख लिया कि मुझमें अध्ययन की लगन है तो फूट पड़ी उनकी ज्ञानसरिता जिसमें मैंने भरपूर अवगाहन किया।

कहा जाता है नालन्दा, विक्रमशिला आदि अपने समय के प्रख्यात विश्वविद्यालयों के प्रवेशद्वार पर पण्डित रहा करते थे जो प्रवेशार्थियों की परीक्षा ले कर ही उन्हें भीतर जाने की अनुमति देते थे।

प्राचीन शास्त्रों में वंश दो प्रकार का कहा गया है, एक जन्म का और दूसरा विद्या का-वंशो द्विधा विद्यया जन्मना च। जिस प्रकार जन्म का वंश पिता, पितामह, प्रपितामह आदि का होता था उसी प्रकार विद्या का वंश भी गुरु, उनके गुरु एवञ्च उनके भी गुरु आदि के रूप में होता था।

जब मैं काशी में छात्र था तो एक दिन दोपहर के समय स्वनामधन्य गुरुवर पण्डित शुकदेव झा जी के पास एक अत्यन्त वृद्ध सज्जन लाठी टेकते हुए आ पहुँचे। उस समय गुरुदेव मुझे व्याकरण पढ़ा रहे थे। मैं समझ गया कि वे उनके गुरु हैं। उन वृद्ध सज्जन ने मेरी ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा। जैसे कि वे जानना चाहते हों कि मैं कौन हूँ। इस पर गुरुजी ने कहा-आपका पौत्र है। विद्या वंश से मैं उनका पौत्र ही लगा। क्या मधुर सम्बन्ध है! आधी शताब्दी बीत गई, आज भी वह वाक्य मेरे कानों में गूँज रहा है।

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति केवल ज्ञानोपार्जन पर ही बल नहीं देती थी अपितु नैतिक गुणों पर भी। विद्याध्ययन की परिसमाप्ति पर गुरु जो अन्तेवासी (=छात्र) को उपदेश देता था-आचार्योऽन्तेवासिन-मनुशास्ति-और जिसे आज की भाषा में दीक्षान्त भाषण कहा जा सकता है उसमें इसी पर विशेष बल है। गुरु का शिष्य को उपदेश था-सच बोलना, धर्म का पालन करना, माता को देवता मानना, पिता को देवता मानना, आचार्य को देवता मानना, अतिथि को देवता मानना, वेदाध्ययन में प्रमाद न करना। मातृदेवो भव, पितृदेवो भव, आचार्यदेवो भव, अतिथिदेवो भव (तैत्तिरीयोपनिषद्, शिक्षावल्ली, 1.11) पुनः इस ओर ध्यान आकर्षित करने के लिये गुरु निषेध माध्यम से (शास्त्र में विधि और निषेध दोनों ही रहते हैं-विधि निषेधात्मकं शास्त्रम्) शिष्य से कहता है-सत्यान् प्रमदितव्यम्, धर्मान् प्रमदितव्यम्, सत्य में प्रमाद न करना, धर्म में प्रमाद न करना।

अन्तेवासी होने का छात्र को एक यह भी लाभ था कि औपचारिक शिक्षा, फार्मल एजुकेशन के साथ-साथ उसकी अनौपचारिक शिक्षा, इन्फार्मल एजुकेशन भी हो जाती थी। चलते-फिरते, उठते-बैठते, बहुत सी बातें गुरु शिष्य को बता देता था जो बहुत काम की होती थीं। मैंने स्वयं अपने जीवन में इस प्रकार बहुत सा ज्ञान अर्जित किया है।

1947 की बात है। पाकिस्तान बना ही बना था। एक दिन रास्ते चलते-चलते गुरुजी पं. रघुनाथ शर्मा पाण्डेय जी-मेरा आवास उन दिनों (तब मैं काशी हिन्दू विश्वविद्यालय छात्रावास में नहीं था) गुरु जी के आवास के पास ही था और प्रातः विद्यालय जाने के लिये जोकि पांच-छः मील दूर था मैं उनके साथ हो लिया करता था-कहा कि देखो जो पाप करता है उसका फल उसे इसी जन्म में मिल जाता है। पाकिस्तान के निर्माता जिन्नाह ने वाणी से विषवमन किया था जिससे भाई-भाई में द्वेष उपजा और जिस कारण सहस्रों लोगों को अपने प्राणों से हाथ धोने पड़े। पाकिस्तान बना पर उसके बनाने वाले की आवाज़ प्रभु ने छीन ली। कहा जाता है जिन्नाह को अन्त समय में जिह्वा का कैंसर हो गया था। जिस कारण वे बोलने में असमर्थ हो गये थे। गुरु जी ने इस पर एक श्लोक भी बोला था—

त्रिभिर्वर्षैस्त्रिभिर्मासैस्त्रिभिः पक्षैस्त्रिभिर्दिनैः।

अत्युत्कटैः पापपुण्यैरिहैव फलमश्नुते॥

—हितोपदेश, 1.84

अत्युग्र पाप और पुण्यों का फल व्यक्ति इस जन्म में ही पा लेता है। वह तीन वर्ष, तीन मास, तीन पखवाड़े, तीन दिन में, कभी भी हो सकता है। एक भोले-भाले, सीधे-साधे पण्डित की उक्ति में कितना सार है।

आचार्य की प्रार्थना थी कि विद्यार्थी चलकर उसके पास आये-आ मे यन्तु ब्रह्मचारिणः स्वाहा-ताकि जो ज्ञान उसने स्वयं के परिश्रम से या परम्परा से प्राप्त किया है वह उसे उनमें सङ्क्रमित कर सके।

प्राचीन भारत की शिक्षा पद्धति में एक बात जो विशेषरूप से अवधेय है वह यह है कि छात्र ही गुरु से शिक्षा प्राप्त करने उसके पास जाते थे। पश्चिम के देशों की ट्यूशन की तरह की पद्धति तब यहां प्रचलित नहीं थी, जिसमें कि अध्यापक को पढ़ाने के लिये घर-घर भटकना पड़ता है। अध्यापक के एक अन्य पर्यायवाची शब्द उपाध्याय का यही रहस्य है। इसका अथरार्थ है-उपेत्याधीयतेऽस्मात्, जिसके पास जाकर पढ़ा जाता है, वह ट्यूशन पढ़ाने वाला मास्टर नहीं है।

कतिपय गुरुकुल अथवा आश्रम इतने बड़े होते थे कि उनमें हजारों विद्यार्थी पढ़ते थे। कुलपति शब्द की परिभाषा इसी तथ्य को उजागर करती है—

मुनीनां दशसाहस्रं योऽन्नदानाद्द्विपोषणात्।

अध्यापयति विप्रर्षिरसौ कुलपतिः स्मृतः॥

—टीकाकार मल्लिनाथ द्वारा कलिदासकृत अभिज्ञान शाकुन्तल की टीका में उद्धृत

जो दससहस्र मुनियों का खानपान के द्वारा पालन-पोषण कर अध्यापन करता है उसे कुलपति कहा जाता है। जो अपने छात्रों के लिये जो उसके अन्तेवासी है, उसके आसपास ही रहने वाले हैं इतना करता है उसके प्रति छात्रों के मन में सम्मान होना स्वाभाविक ही था। धीरे-धीरे परिस्थितियां बदली। गुरुकुलों महाविद्यालयों का स्थान अधिकांश में आधुनिक पद्धति के स्कूलों, कालेजों और विश्वविद्यालयों ने ले लिया। छात्र अब अन्तेवासी न रहा। न गुरु अब उनकी सब प्रकार की व्यवस्था करने वाला रहा। दोनों में दूरी आ गई। आचार्य को अपने आचार्यत्व के गुणों पर कसे जाने की आवश्यकता न रही। उसका भी

चारित्रिक हास हुआ। ईर्ष्या, द्वेष, कलह, संघर्ष आदि मानव सुलभ दुर्गुण उसमें प्रस्फुटित होने लगे। अध्यापन मात्र एक व्यवसाय, profession बन कर रह गया, जीविकोपार्जन का मात्र एक साधन। एक कवि ने कहा था—“यस्यागमः केवलजीविकायै तं ज्ञानपण्यं वणिजं वदन्ति” जिसका ज्ञान केवल जीविका का साधन है वह बनिया कहलाता है, ज्ञान जिसकी विक्रयसामग्री है। यदि विक्रयसामग्री से आय कम हो तो बनिये की हालत का अनुमान सहज में ही लगाया जा सकता है। फलतः उत्कृष्ट कोटि की प्रतिभाओं को आकृष्ट करने में और यदि वे आकृष्ट हुई भी तो उन्हें अपने से अलग न होने देने में यह व्यवसाय असफल सिद्ध हुआ। आर्थिक आवश्यकताओं और सामाजिक परिवेश के अर्थ प्रधान दृष्टिकोण से दबा आज का अध्यापक धरनों, प्रदर्शनों, भूखहड़तालों पर जाने को विवश होने के कारण ज्ञान के उपार्जन तथा उसके प्रचार-प्रसार में अपेक्षित रुचि न लेने लगा। उधर छात्र भी परीक्षा के ही उनकी योग्यता के मापदण्ड होने के कारण उसमें सफलता प्राप्त करने को ही चरम लक्ष्य समझ नकल करना, नोटबुक परीक्षाभवन में ले जाना, परीक्षकों का पता कर आर्थिक प्रलोभन अथवा धमकी से अंक बढ़वाना आदि अनेक अनैतिकाओं की ओर उन्मुख हुआ। परीक्षाभवन में चाकू दिखाने और छुरा घोंपने की घटनाएं आम बात हो गई। फलतः सारा का सारा शिक्षा का ढांचा ही चरमरा उठा। इसे और अधिक धक्का पहुंचा अध्यापकों की नियुक्तियों में होने वाले भ्रष्टाचार और भाई-भतीजावाद से।

अब जबकि प्रतिक्षण नये-नये आविष्कार हो रहे हैं, कम्प्यूटर और इन्टरनेट ने ज्ञान की सीमा का अभूतपूर्व विस्तार कर दिया है, गुरुकुलीय पद्धति में वापिस जाने की बात सोचना भी सम्भव नहीं। नयी शती को यही विचार करना है कि किस तरह पुनः अध्यापक और छात्र के रिश्तों में अधिक निकटता आये, किस तरह शिक्षा जगत् में नैतिकता पुनः पांव जमा सके और सीखने और सिखाने की प्रवृत्ति को बढ़ावा मिल सके। सही शिक्षा ही देश और समाज को उन्नति के मार्ग पर ले जा सकती है।

इधर देश में मानवीय मूल्यों का तीव्र गति से हास हुआ है। धर्म की चर्चा तो बहुत है पर उस पर आचरण नहीं हो रहा। भ्रष्टाचार का बोलबाला है। किसी भी तरह से हो स्वार्थ सिद्ध होना चाहिए यही मनोवृत्ति बनती जा रहती है। उद्देश्य के साथ-साथ उसकी पूर्ति के साधन भी समीचीन होने चाहियें इस गान्धीजी के सिद्धान्त को लोगों ने विस्मृति के गर्भ में धकेल दिया है। उपभोक्तावाद की संस्कृति के कारण नैतिकतावाद की संस्कृति पर काली छाया मंडराने लगी है। जो धर्म सारी सामाजिक व्यवस्था का आधार है, धर्म का लक्षण ही यही है—धारणाद्धर्म इत्याहुर्धर्मो धारयते प्रजाः, उसे ही लोग भूलते जा रहे हैं। आवश्यकता है नई शती में धर्म चर का पुनः उद्घोष करने की। उस धर्म की जिसकी पहिचान (लक्षण) धृति, क्षमा, दम, अस्तेय (चोरी न करना), शौच, इन्द्रिय-निग्रह, बुद्धि (सम्यग्बोध), विद्या, सत्य और अक्रोध के रूप में बताई गई थी—

धृतिः क्षमा दमोऽस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्मलक्षणम्॥

—मनुस्मृति, 6.92

इन दस को इन पांच में संक्षिप्त कर दिया गया—अहिंसा, सत्य, अस्तेय, शौच और इन्द्रिय-निग्रह जिस चारों वर्णों के लिये आवश्यक माना गया—

अहिंसा सत्यमस्तेयं शौचमिन्द्रियनिग्रहः।

एतं सामासिकं धर्मं चातुर्वर्ण्येऽब्रवीन्मनुः॥

—मनुस्मृति, 10.63

इन पांच का भी अन्त में एक में ही उपसंहार कर दिया गया और वह एक था-जो अपने लिये हानिकारक है वह दूसरे के साथ न करे-आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।

सारा उत्कर्ष अपकर्ष में बदल सकता है यदि जीवन मूल्यों की ओर ध्यान न दिया गया। इसलिये एक प्राचीन चिन्तक ने कहा था कि साक्षर उल्टा पढ़ा जाये तो राक्षस बन जाता है। साक्षरो विपरीतश्चेद् राक्षसो भवति ध्रुवम्। संवेदना शून्य मानव को सारी की सारी वैज्ञानिक और तकनीकी प्रगति किस गर्त में धकेल देगी उसकी कल्पना मात्र से सिहरन हो उठती है।

नई शती की सब से बड़ी चुनौती नैतिकता को पुनः प्रतिष्ठित करने की है। व्यष्टि से समष्टि की दृष्टि अपनाने की है। केवल अपने लिये न जीकर सम्पूर्ण समाज, देश और मानव जाति के लिये जीने की इच्छा अपने में जगाने की है। 'मा गृधः कस्यस्विद्धनम्' किसी के धन का लालच न कर, का उद्घोष फिर से करने की है।

आवश्यकता इस बात की है कि आज की वैज्ञानिक एवं तकनीकी उन्नति के युग में जहां हर क्षण नये-नये अविष्कार और अनुसन्धान हो रहे हैं हम अपनी परम्परागत अनुभव के आधार पर जांची-परखी जीवन-मूल्य-धारा से जुड़े रहें। नवीन हो कर भी चिरन्तन रहने की कला यदि हम सीख सकें तो यह नवीन शती की सबसे बड़ी उपलब्धि होगी।

आवश्यकता है पौर्वात्य और पाश्चात्य सांस्कृतिक विचारधाराओं के सन्तुलनात्मक समन्वय की। पूरब और पश्चिम को एक दूसरे के पास आना ही होगा। नई शती इसी ओर संकेत कर रही है।



Sanskrit Content in Thai Language

—Satya Vrat Shastri

Though structurally entirely different from Sanskrit, Thai language has a large Sanskrit content which covers practically every discipline of life. The Sanskrit vocabulary of Thai can broadly be divided in three categories: One, where Sanskrit words are preserved in their original Sanskrit pronunciation and meaning (making allowance for elision of final *a* in *a*-ending words, dentalization of palatals and cerebral *ś* and *ṣ*, the *o*-type of pronunciation of *a*, a general feature of Thai) like *velā* for time, *nalikā* for clock or watch, *vivāha* for marriage, *māṃsāvīrata* for vegetarian, *kavi* for poet, *sama* for always or equal to, *surā* for liquor, *rūp(a)* for picture or photograph, *pramān(a)* for approximately, *parimān(a)* for quantity, *pratidinam* for calendar, *mān(a)* for curtain, *upamā* for simile *bhās(s)ā* for language (*bhāsā* Thai), *mo(a)ntrī* for minister and so on; two, where words keeping up their original Sanskrit form in pronunciation undergo change in meaning, major or minor, like *prārthanā* for desire, *karuṇā* for please, *sukhā* for toilet and so on; and three, —and this comprises the largest number of words—which undergo change in pronunciation. Further, there are combination words in Thai which again can be divided in two categories: one, where two Sanskrit words are combined in a given sense like *mit-sahāy*, *mitra-sahaya*, for friend, *vivāhamonkhon* and *monkhon-somrot*, *vivāhamāṅgala* and *māṅgalasamarasa*, for marriage, *wongsakun*, *vaṃśākula* for family tree, *sathān-anamay*, *sthāna-anāmaya* or in Sanskrit syntax *anāmayasthāna* for hospital, *hetkān*, *hetukāraṇa* for event, *kiyatiyot*, *kīrtiyaśa(s)* for fame, *pasusāt*, *paśusattva*, a domestic animal, *yākpisāt*, *yakṣapīśāca* for demon; occasionally even a Pali word is combined with a Sanskrit word: *suksabāy* where *suk*, *sukha*, is of Sanskrit and *sabāy*, *sapāya* is that of Pali; two, where one component, one of Sanskrit and the other of Thai are conjoined. e.g., *Krungthev*, the Thai name for the city of Bangkok where *thev*, *deva*, of Sanskrit and *krung* of Thai are joined, *namtān* for sugar where *tān*, *tāla* of Sanskrit meaning palm is joined with *nām* meaning water of Thai, the word meaning literally the water or juice or extract of palm, reminiscent of the time when sugar was made in Thailand from the palm juice, *khwāmsuk* where *suk*, *sukha* of Sanskrit has *khwām* of Thai in the sense of “ness” prepositioned to it, *chitchāi* meaning mind has *chit*, *citta* of Sanskrit and *chāi* of Thai combined, *pholomāi* where *pholo*, *phala*, fruit in Sanskrit is combined with *māi* meaning root of Thai, the whole word even with the addition of the word meaning just fruit, *rachwāng* where *rācha*, *rāja(n)* meaning king of Sanskrit is combined with *wāng* meaning palace of Thai, the whole word meaning the royal palace, *rāngrūp(a)* and *rāṅkāy(a)* where *rūp(a)* and *kāy(a)* of Sanskrit meaning body are combined

with *rāṅg* of Thai meaning 'form', the whole word meaning 'of bodily form' or just body and so on.

With a bit of appreciation of Thai phonology the Sanskrit words can easily be connected with their Sanskrit originals. The Sanskrit sounds are pronounced differently in Thai thereby giving a word a different appearance. We may take up here a few sounds by way of illustration. The final *kh* is generally pronounced in Thai as *k* : *sukha* > *suk*, *duhkha* > *thuk*; *g* is pronounced as *kh*. *nagara* > *nakhon*, *Nakhon Nayok* < *Nagara Nāyaka*, *Nakhon Pathom* < *Nagara Prathama*, names of Thai cities, *Mahānakhon* < *Mahānagara*, *Krungthev* is the Thai name of Bangkok, for Metropolis the word is *Mahānakhon*, Bangkok Metropolis in Thai is *Mahanakhon Krungthev*, *akhra*, *agra*, chief, *akhramahesī*, the chief queen; coming finally *g* becomes *k*: *rāga* > *rāk*, *bhāga* > *phak*; *gh* also becomes *kh* in Thai: *megha* > *mekh*; *j* is pronounced as *ch* : *chaya* < *jaya*, *achīva* < *ajīva*, vocation, *chāmada* < *jāmāta*, son-in-law, *rāchachonni* < *rājajananī*, the *rājamāta*, the Princess Mother, *d* and *dh* are pronounced as *th* : *prathet*, *pradeśa*, land, *Prathet Thai*, Thailand, *Aranyaprathet*, name of a region, *prathān*, *pradana*, to give, *thesānuphāb*, *desānubhāva*, majesty, *thavīp*, *dvīpa*, island, *uthayān*, *udhāna*, garden, *phiphithaphan*, *vividhabandha*, museum, *thammasāt*, *dharmaśāstra*, *thammachāt*, *dharma-jāti*, natural; when final, it becomes *t* : *krot*, *krodha*; *t* is pronounced as *d* : *dabā*, *tapas*, *Sītā*, *Sīdā*, *dontrī*, *tantrī*, a musical instrument; *p* is pronounced as *b* : *bun*, *punya*, merit, *būchā*, *pūjā*, worship, *borān*, *purāna*, old, *burī*, *purī*, city; *bh* is pronounced as *ph* : *phūm*, *bhūmi*, earth, *Phūket*, name of a place in Thailand, *bhūksetra*, *khunnaphāb*, *guṇabhava*, quality, *samphās*, *sambhāṣ(a)* or *sambhāṣana*, interview or oral examination, *phan*, *bhṛṅga*, bee, *phariya*, *bhāryā*, wife, the same occurring medially becomes *b* : *sombāt*, *sampatti*, wealth; *s* and *ś* when occurring finally become *t* or *d* : *dāsa*, *thāt*, slave, *ākāśa*, *ākād*, sky or space, *śeṣa*, *set*, remainder. The final *r* is pronounced as *n* : *āhāra*, *āhān*, food, meals, *acārya*, *āchān*, teacher, *samhāra*, *samhān*, destruction.

Thai has a tendency of anaptyxis, introducing a vowel in between conjunct consonants: *satyā* is pronounced in *sataya*, *raśmi* as *rasami*, *svāmī*, as *sawāmī* husband and so on. Conversely it also has the tendency of syncopation: *khru* for *guru*, *khrot* for *garuḍa* and so on. It has also the tendency of dropping a part of the word, e.g., *mon* from *mantra*, chant where *tra* is dropped, *chan* and *samud* from *candra* and *samudra* moon and ocean, where *dra* is dropped, *chā* from *icchā*, desire where initial *i* is dropped, *mok* from *muktā*, pearl where *tā* is dropped, *maichān*, a combination word of *māi* of Thai and *candana* of Sanskrit where *da* and *na* of original are dropped. About the final *y(a)*, it is retained in certain words as in *ubāy*, *upāya*, means, remedy, *phāy*, *bhaya*, fear, *banlāy*, *pralaya*, doom, *mitsahāy*, *mitrasahāya*, friend, *paccāy*, *pratyaya* *somsāy*, *samśāya*, doubt, *vichāy*, *vicaya*, gathering, *chāy*, *jaya*, victory, *kamlāṅkāy*, a combination word with *kamlāṅg* of Thai and *kāya* of Sanskrit, exercise, *rāṅkāy*, mentioned earlier, bodily form, while in others it is dropped, e.g., *a...n*, *anya*, other, *sāmān*, *sāmānya*, ordinary, *sāmān*, *sāmānya*, bad, *thāpat*, *sthāpatya*, architecture, *luksit*, a combination word with *luk* of

Thai and *sit*, *śiṣya* of Sanskrit, pupil, student, *rāchakan*, *rajakārya*, a state official and so on.

Whether Sanskrit entered into Thailand through Pali which came with the introduction of Buddhism or independently via the Khmer kingdom is a matter of debate. Evidences are not lacking in Thai even of the influence of Sanskrit over Pali, the most notable example of which is the word *pacaksa*, direct perception. The Sanskrit form of this is *pratyakṣa* and the Pali form *paccakkha*. Now, if Thai *pracaksa* were derived from Pali *paccakkha*, its Sanskritization in Thai would have to be accepted, for the forms *pra* and *caksa* would not go well with Pali genius. So would not be the appearance of *r* in *akhra*, Sanskrit *agra*, *marga*, or *markha*, Sanskrit *mārga* which in Pali is assimilated in the following sound: *agga*, *magga*. All this would lead us to the conclusion that Sanskrit must not have been on the sidelines in Thailand. Not only the new coinages like *sawad-dī* for *svasti*, the term of greetings in Thailand, *thanākhān*, Sanskrit *dhanāgāra* for bank, *thoralekh*, Sanskrit *dūralekha* for telegram, *praisanī* Sanskrit *praiṣaṇī* for post office, *Sathānī-vitthayu*, Sanskrit *vidyut-sthāna* for Radio Station, a host of other words too have a Sanskritic ring about them. It is a tribute to Thai power of assimilation that they have been naturalized and given Thai pronunciation and spelling. Such words might have belonged originally to Sanskrit. At present they are a part of Thai vocabulary. Most of the Thais may be least conscious of the fact that the names that they have, such as *Prīdi* (*Prīti*), *Hongskul* (*Hamsakula*), *Visudh* (*Viśuddha*), *Vinaya*, (*Mahānond*) (*Mahānanda*), *Syāmānanda*, *Chirāyu*, *Valayā*, *Usā* (*Ushā*), *Priyā*, *Anong* (*Anaṅga*), *Galayani*, (*Kalyāṇī*) are all from Sanskrit. To them they are Thai names if which they are legitimately proud.

As with the names of the human beings, so with the names of the cities, towns, provinces and so on. Behind the crust of their phonetic variation their Sanskritic form peeps out. The following may be mentioned by way of illustration:

Thai	Sanskrit
Ayutthayā	Ayodhyā
Buriram	Purīramyā
Chanthaburi	Candrapurī
Chayanāt	Jayanāda
Chayaphūm	Jayabhūmi
Chonburī	Jalapurī
Kālasindhu	Kālasindhu
Kānchanaburī	Kāñcanapurī
Lopbrī	Lavapurī
Nakhon Rāchasiṁā	Nagararājasīma

Nakhon Pathom
 Nakhon Sī Thammarāt
 Nakhon Nāyok
 Nakhon Sawan
 Nonthaburī
 Mahāsarakhām
 Mukdāhān
 Phetchburī
 Phitsnulok
 Prachīnburī
 Rājburī
 Sakon Nakhon
 Samutprakān
 Samutsonkrām
 Simhaburī
 Sukhothāi
 Surattāhānī
 Surin
 Sawankhalok
 U Bon
 Udon Thānī
 Uttaradit
 Yasothorn

Nagaraprathama
 Nagaraśrīdharmarāja
 Nagarānāyaka
 Nagarasvarga
 Nandapurī
 Mahāsrāgrāma
 Mukthāhara
 Vajrapurī
 Viṣṇuloka
 Pracīnapurī
 Rājapurī
 Sakalanagara
 Samudraprākāra
 Samudrasaṅgrāma
 Simhapurī
 Sukhodaya
 Suraṣṭradhānī
 Surendra (purī)
 Svargaloka
 Utpala
 Uttaradhānī
 Uttaratīrtha
 Yaśodhara

For a country or region the Thai word is Prathet, Sanskrit Pradeśa. One of the regions of Thailand bordering Kampuchea is called Aranyaprathet, Sanskrit Aranyapradeśa. Thailand in Thai is called Prathet Thai.

The origin of the title Cakrī of the present ruling dynasty of Thailand is quite interesting, nay, revealing. Cakrī is derived from Sanskrit Cakra, an evidence again of Thai proceeding independently of Pali.

The subjects in the Thai kingdom are known as *prachā chon*, Sanskrit *prajājana*. The different parts of the country are called *phāk*, Sanskrit *bhāga*. A province is known as *Caṇvāt* of which *vāt*, *vāṭa*, is Sanskrit. The word for countryside is *chonnabod*, Sanskrit *janapada*. The field or farm is *kaset*, Sanskrit *kṣetra*, the seed sown is *phued*, Sanskrit *bīja*. Agriculture is *kasetkam*, Sanskrit *kṣetrakarma*. As per the practice in Thailand the

king himself ceremonially ploughs a small piece of land to initiate the sowing operation. The ceremony is called *phithi charot pra nan̄khan, vidhi....laṅgala*, the ceremony of handling the plough. The Civil Service is called in Thailand *rāchakan, rājakārya*. Municipal administration is called *thesabān*, Sanskrit *deśapāla* and one in charge of it is called *thesamontri*, Sanskrit *deśamantri*. A minister in the central cabinet is called *raṭhamontri*, Sanskrit *rāṣṭramantri*. The Prime Minister is called *nāyok raṭhamontri* Sanskrit *nāyaka rāṣṭramantri*. The Foreign Minister is *rathamontri tān prathet, tān pradeśa rāṣṭramantri*. The minister of the interior is *mahat thai*, Sanskrit *mahā thai*. The Director of Education is *Siksādhikān*, Sanskrit *Śikṣādhikāra*. The Director of Broadcasting is *Adhibodī krom prachā samphan*, Sanskrit *Adhipati karma prajāsambandha*. The Parliament is *Raṭhasabha*, Sanskrit *Rāṣṭrasabhā* and the Cabinet is *Khana raṭha montri, Gaṇarāṣṭramantri*. The Secretariat is called *Lekhādhikān khanarathamontri, Lekhādhikātra gaṇarāṣṭramantri*.

The word for road in Thai is *thanon*, Sanskrit *sthāna*, for a footpath, *pādavithi*, Sanskrit the same, for station *sathāni*, Sanskrit *sthāna* (Bus Stand : Sathani May, Railway Station *Sthānī Rod Fāy*, *Sthāna Ratha Fay*, A hall is *sālā*, Sanskrit *śālā*, a door is *thavan*, Sanskrit *dvāra*, an arch is *toron*, Sanskrit *toraṇa*, a palace is *prasād*, Sanskrit *prāsāda*. a pavillion is *vedi*, Sanskrit the same.

The word for enemy in Thai is *satru* which is pure Sanskrit except for the dentalization of the palatal *ś* which in common with Thai phonology where the palatal *ś* and the cerebral *ṣ* are invariable substituted by dental *s*, the example of the cerebral *ṣ* being substituted by dental *s* being *rasī*, Sanskrit *rṣi*. The word for friend is *mit*, Sanskrit *mitra* or *sahāy*, Sanskrit *sahāya* or the combination of the two, *mitsahay*, Sanskrit *mitrasahaya*. Battle or war in Thai is called *samon* which is Sanskrit *samara*. So is *samonphūm*, battlefield from Sanskrit *samarabhūmi*. The word for weapon in Thai is *avut* which is from Sanskrit *āyudha*.

The names of a number of trees, plants and flowers in Thai are Sanskritic. Thus, *Bakun* in Thai is Sanskrit *Bakula*, *Padum*, Sanskrit *Padma*, *Kokonadu*, Sanskrit *Kokanada*, *Komud*, Sanskrit *Kumudā*, *Phutsa*, Sanskrit *Badara*, *Mālī*, Sanskrit *Mālatī* or *Mallikā*, *Chomphu*, Sanskrit *Jambū*, *Tāla*, Sanskrit the same and so on. For fruit Thai has *phon* (*tamai*) of which *phon* is Sanskrit *phala*. The fruit of an action is also called *phala* or *karmaphala* in Sanskrit. So is it in Thai: *phon la kam*, *phala-karma* or *karma-phala*. The word for tree in Thai is *tonmai*. *Ton* is Sanskrit *taru*.

The names of the months in Thai have all Sanskrit origin. But unlike Sanskrit they are based on the names of the signs of the Zodiac or *Rāsis*. Quite scientific, the Thais follow a definite system in the naming of the months: the names of the months with 31 days end in the word *ākhom*, Sanskrit *āgama*; those with 30 days in *ayon*, Sanskrit *āyana* and the one, obviously February, with less than 30 days ends in *phan*, Sanskrit *bandha*. The Thai names for the months, thus, are :

Thai	Sanskrit	English
Mesāyon	Meṣāyana	April
Phṛsaphākhom	Vṛṣabhāgama	May
Mithunāyon	Mithunāyana	June
Karakadākhom	Karkaṭāgama	July
Siṃhākhom	Siṃhāgama	August
Kanyāyon	Kanyāyana	September
Tulākhom	Tulāgama	October
Phṛscikāyon	Vṛścikāyana	November
Dhanvākhom	Dhanvāgama	December
Makarākhom	Makarāgama	January
Kumphaphan	Kumbhabandha	February
Mīnākhom	Mīnāgama	March

Besides these general names, some of the months may have in Thai some special names based on some special events, e.g., Visākhābūchā, Sanskrit Viśākhapūjā for the month Lord Buddha was born, got enlightenment and attained Nirvāṇa. Similarly the month the Buddhist monks start the rainy-season-prayers is called Ā-sā-la-ha in Thai Ā-sā-laha-būchā, Āśādhapūjā in Sanskrit.

For season the Thais have the word *rdū*, Sanskrit *ṛtū*, for time *velā*, Sanskrit the same. *watch nādikā*, Sanskrit *nādikā*. No word in Thai is found for a particular season. It is in the name of the dish *Krayāsāt*, however, that the name of the season *śarad*, autumn, peeps out. *Sāt* is *śarad*.

The names of the days too have Sanskritic origin. As against the Sanskrit practice of adding the word *vāra* or *vāsara* signifying day after the names of the planets Thai has the word *van* (=day) preceding them:

Thai	Sanskrit	English
Van-āthit	Ādityavāra	Sunday
Van-can	Candravāra	Monday
Van-añkhān	Maṅgalavāra (Aṅgāravāra)	Tuesday
Van-phut	Budhavāra	Wednesday
Van-phrahatsabody	Br̥haspativāra	Thursday
Van-suk	Śukravāra	Friday
Van-sao	Śanivāra	Saturday

While talking of the names of days, it is interesting to note that Thai has a very peculiar word for calendar. It is *Pratidinam* which is pure Sanskrit.

The names of the quarters in Thai are all from Sanskrit. The intermediate space among quarters is identified in Sanskritic tradition with some deity or the other like Rudra, Agni, etc. So is it in Thai. Below is being reproduced a chart giving the names of the quarters and their intermediate points in Thai with their Sanskrit originals and English equivalents to help form a clear idea of the influence that Sanskrit has exercised:

	Udm		
	Uttara		
	North		
	Phāyap	Īsān	
	Vāyavya	Īsāna	
	North West	North East	
Pracim			Būraphā
Paścima			Pūrvā
West			East
	Hawradi	Ākhane	
	Nairṛti	Āgneya	
	South West	Āgneya	
		South East	
			Thaksin
			Dakṣiṇa
			South

Thai has words for all the four Varnas, castes, which are the same as in Sanskrit except for certain phonetic variations and semantic peculiarities. Brāhmaṇa is called Phrām, Kṣatriya Kasat, Vaiśya Phait and Śūdra Sud in Thai. Of these Phait and Sūd are of academic interest only, being no longer in use in popular speech. The word for merchants current in popular speech is Vanit which is a changed form of Sanskrit Vanij and is more often than not pronounced as Phanit or Phanij. Apiece with it is Thai Kasat from Sanskrit Kṣatriya. The king is styled Mahākasat, Mahākṣatriya. It could be that Kasat is a derivative of Kṣatra and not Kṣatriya which word also is part of the Sanskrit vocabulary.

The concept of the four states, Āśramas, in the life of a person is not altogether unknown to Thailand where words for at least two stages, Brahmacharya and Grhastha.

do exist. Brahmacharya is called Phrommacan which means abstinence from sex. It is not unoften used with the word *praphṛt*, Sanskrit *pravṛtti*, practice: *Praphṛt Phrommachan*, practice of Brahmaarya. Grhastha is called Khṛhat, a householder. There are no words for Vānaprastha and Sannyāsa in Thai.

There are words for three Saṁskāras or religious rites, in Thai. They are : Nāmakorn, Sanskrit Nāmakaraṇa, naming or Christening, Vivāha, Vivāhamonkhon and Monkhon Somrot, Sanskrit Vivāha, Vivāhamāṅgala, Māṅgalasamarasa for marriage and Jhāpanakicā, Sanskrit Kṣāpanakṛtya, (Antyeṣṭi) for last rites, the funeral.

The common word for a deity is *thevadā*, Sanskrit *devatā*. The male one is called *theva*, Sanskrit *deva* and the female one *thevī*, Sanskrit *devī*. The Hindu gods known in Thailand which have words for them in Thai are Phram, Sanskrit Brahmā, Narāi or Phitsanu, Sanskrit Nārāyaṇa and Viṣṇu respectively, Isuan, Sanskrit Īśvara, Rāma and Hanumān, Sanskrit the same, Khanesa, Sanskrit Gaṇeśa, Laksamī, Sanskrit Lakṣmī, Sīdā, Sanskrit Sītā and Saraswadī, Sanskrit Sarasvatī.

Along with gods and goddesses of the Hindu pantheon there are words in Thai for the spiritual and the holy people like *rasī*, Sanskrit *rṣi*, noticed earlier in the context of the dentalization of the celebral, *muni*, Sanskrit the same and *dāba*, Sanskrit *tāpasa*.

Now a word about the different sciences and disciplines. It is interesting to know as to how they are called in Thai:

English	Thai	Sanskrit Original
Anthropology	Manusyavidyā	Manuṣyavidyā
Economics	Sethsāt	Śreṣṭhaśāstra
Logic	Takavidyā	Tarkavidyā
Psychology	Cittavidyā	Cittavidyā
Ethics	Cariyāsāt	Caryāśāstra
Humanities	Manusasāt	Manuṣyaśāstra
Sociology	Sankhom vidyā	Samgamavidyā
Linguistics	Bhāsasāt	Bhāṣaśāstra
History	Pravattisāt	Pravṛtṭiśāstra
Political Science	Rathasāt	Rāṣṭraśāstra
Mathematics	Khanitsāt	Gaṇitaśāstra
Philosophy	Prajñā	Prajñā
Zoology	Sattvavidyā	Sattvavidyā
Biology	Jīvavidyā	Jīvavidyā

Science of Teaching	Kharusāt; Siksāsāt	Guruśāstra, Śikṣāśāstra
Law	Nītisāt	Nītisāstra
Engineering	Vissavakammasāt	Viśvakarmaśāstra
Medicine	Phaityasāt	Vaidyaśāstra
Surgery	Sallayasāt	Śalyaśāstra
Pathology	Ayursāt	Āyuhśāstra

As may be seen, a particular order is noticeable in the nomenclature. The words which in English end in *logy* are rendered in Thai by the term *vidyā*, while those ending in *ics* by *sāt*, Sanskrit *śāstra*.

The institutions of higher learning in Thailand have Sanskrit names. The colleges are called Vidyālayas and the Universities Mahāvidyālayas, the words being pronounced as Vitthayālaya and Mahāvitthayālaya respectively. For school, however, a typical Thai word Rong Rien is used. But when it comes to denoting a Primary or Secondary School, the words Prathom, Sanskrit Prathama and Matthayom, Sanskrit Madhyama are prepositioned. Similarly prepositioned to the same Rong Rien are the words Anubān, Sanskrit Anupāla and Āchīp, Sanskrit Ājiva to denote the Motessary School and the Vocational School respectively.

The words for some of the University officials are Sanskritic in origin. The Dean is called Khanabody, Sanskrit Gaṇapati, the President (=Vice-Chancellor) of the University is called Adhikanbody, Sanskrit Adhikārapati. The Ministry of Education is called Kasuang Siksadhikān, Sanskrit Śikṣādhikāra.

The terms for the various University degrees in Thailand are also typically Sanskritic. The Bachelor's degree is called Bandit, Sanskrit Paṇḍita and the Master's degree Mahābandit, Sanskrit Mahāpaṇḍita. For the research degree, the Ph.D. the word is Dussadi Bandit, Sanskrit Tuṣṭi Paṇḍita. For research the Thai word is *vichay*, Sanskrit *vicaya*, gathering or collecting. At least three Universities in Thailand have Sanskritic names, the Universities of Dhammasāt, Sanskrit Dharmaśāstra, Silpakorn, Sanskrit Śilpākara and Kasersāt, Sanskrit Kṣetraśāstra.

The Thai vocabulary is full of words of Sanskrit origin.

Thailand's links with India go back to hundreds of years. And the strongest of these links, apart from religion and culture is Sanskrit with which the Thais developed a sense of belonging since very early times.



Aṣṭabrata Tradition of Indonesia

Its Sanskrit Connection

—Usha Satyavrat

Aṣṭabrata (Aṣṭavrata) symbolizes the eight principles of leadership, which are met with in two traditions in Indonesia in Wayang and in literature. According to this tradition a king combines in him eight gods: Hyang Indra (the god of rain), Yama (the god of death), Rawi (the sun), Sasi (the moon), Anila (the god of wind), Kuwera (the god of wealth), Baruna (the god of sea) and Agni (the god of fire). It is the qualities of these gods that a king or for that matter any leader of society should be expected to practice.

In Wayang the Aṣṭabrata is known as Wahyu Makutha Rāma, the Revelation of Makutha Rāma.

In the Wayang tradition Aṣṭabrata has *Mahābhārata* connection and in the literary tradition it has *Rāmāyaṇa* connection. As per the Wayang tradition two groups, one led by Prabu Suyodana (this is how Duryodhana is called in Indonesia) who sends Kauravas headed by Adipati Karna to acquire it (Wahyu Makutha Rāma) from Begawān Kesawasiddhi (Bhagavān Keśavasiddhi) and the other led by Raden Arjuna attempting to do the same. It is Raden Arjuna who is imparted instruction in leadership principles by Begawān Kesawasiddhi.

In literary tradition the Aṣṭabrata finds mention the first time in the *Rāmāyaṇa Kakawin*, the *Rāmāyaṇa Kāvya*, of Indonesia of about the 9th Cen. A.D. It occurs there two times, first, in the context of Rāma's teaching to Bharata when he approaches him in the forest to persuade him to return to Ayodhyā and the other time in the context of instruction to Wibhisono, Vibhīṣaṇa at the time of his coronation in Alengkā, Lankā—both being considered immature for leadership by Rāma.

The instruction in both the cases is the same comprising as it does the eight activities, *aṣṭa*=eight and *vrata*s=courses of conduct. The term Aṣṭabrata occurs in the context of instruction to Wibhisono only. The instruction to Bharata is found in *Sarga* (Canto) 3 and that to Wibhisono is found in *Sarga* 24 of the *Rāmāyaṇa Kakawin*. The instruction as recorded in stanzas 51–60 of *Sarga* 24 is as under:

51. Eight gods unite in the prabu's (prabhu's) inner self
That is why he is so powerful and incomparable.

Astorian Tradition of Hinduism in British Columbia

52. Hyang Indra (the God of Rain), Yama (the God of Death), Sūrya (the Sun) Candra (the Moon), Anila (the God of Wind), Kuwera (the God of Wealth) Baruna (the God of Sea) and Agni (the God of Fire), thus there are eight, they unite in the king's inner self - that is why it is named Aṣṭabrata.
53. The act of Indra is to pour rain to pacify the universe
The king should follow the example of Indra
He should pour kindness, that is his rain that irrigates the world.
54. The act of Yama is to punish bad deeds
He is there to strike thieves when they die
Follow him, strike the people who do wrong
Whatever interferes with the world, finish it off.
55. Ravi (the Sun) absorbs water incessantly
And his coming is slow and invisible
So should it be yours when you take something, you have to succeed
Do not rush, that is the act of Sūrya
56. The act of Sasi (Moon) is to provide happiness to the universe
Your act should be captivating in performance
Your laugh should be as sweet as the water of life
Show respect to every parent and intellectual.
57. Be like wind when you observe labour
Understand the character of the universe
Detect but pretend as if you do not see
That is the act of Bāyu.
58. Taste the delicacy of food when in delight
(but) do not worship food and drink
Put on clothes, wear gold and diamonds, dress up
That is the act of Danada (Danada=Kubera) that you should follow.
59. Baruna holds a weapon in his arm
It is dangerously poisonous, it is Nāgapāśa which is able to tie
Follow the act of Nāgapāśa
Tie the evil ones.
60. Always burns, that is the act of Agni
Be fierce to enemies like fire
Whatever you burn will be destroyed and will vanish
Be Agni to the enemies.

After the *Rāmāyaṇa Kakawin* the *Aṣṭabrata* is found in the following texts:

1. *Kitāb Sāstra Nītisruti* (1612)
2. *Kitāb Sāstra Rāma Jarwa* (1770)
3. *Kitāb Sāstra Serat Rāma* (19th Century)
4. *Kitāb Sāstra Babad Sangkala* (19th Century)
5. *Kitāb Sāstra Partawigena* (19th Century)
6. *Lakhon Wayang Makutha Rāma* (20th Century).

In the *Lakhon Wayang Makutha Rāma* (1960 : 60-62) the *Aṣṭabrata* teaching were not imparted by Rāma to Wibhisono but by Bagawan Kesawasiddhi (Kṛṣṇa playing the role of a monk) to Arjuna. It will be worthwhile to reproduce here the dialogue between Kesawasiddhi and Arjuna as found in that text:

Kesawasiddhi

It is called *Aṣṭabrata*; *aṣṭa* means eight and *brata* means act. The eight acts have come from the universe. They are the means to guide the king.

A king should have the character of the sun. He should act like it. The acts of the sun are : (i) to light up the universe and (ii) and to give life to creatures. Like the sun the king should serve as the source of light to his people. Also his actions and rules should be the source of life and honour to them.

Arjuna

I hope I can follow the example.

Kesawasiddhi

A king should have the character of *Rembulan* (the Moon). Its acts are: (i) to provide light in the darkness and (ii) to provide cooling and comforting light. A king should provide light when darkness is enveloping his reign. He should provide comfort to the people by resort to such actions as may protect them which could provide comfort to their hearts. That will make them obedient and lead to the improvement in the quality of national life which will mean prosperity and well-being of the nation.

Arjuna

My gratitude to you. I hope I can implement your instructions.

Kesawasiddhi

A king should have the character of *Kārtikas* (stars). Their acts are : (i) to beautify the sky and (ii) to serve as a compass. A king must be the centre of beauty, the source

of ethics, morality and the adi-luhung, culture, of his nation. He has to set an example and serve as a compass for all his people in his moves, behaviour, attitude, especially in his speech and worship to God. This infuses morality and culture in the nation which will promote its excellence and glory.

Arjuna

Yes, I hope I can carry out your explanation.

Kesawasiddhi

A king should have the character of Mendung (Cloud). Its acts: (i) to frighten the people who see it and (ii) to fall as rain to fertilize plants. A king should show his grandeur and sovereign power, yet the system of administration should be so devised as to lead to the honour and harmony of the nation. For that reason the whole nation will appreciate and respect the king's regulations and restrictions which will uphold the implementation of the laws.

Arjuna

Yes, I will follow this teaching.

Kesawasiddhi

A king must have the character of Bumi (the Earth). Its acts are : (i) to be peaceful and (ii) to be pure. A king, O Arjuna, must have a peaceful mind. He is not supposed to lose stability because of the sweet talk of informers. He must always be pure and factual in his speech and acts. On that account people will be more loyal and devoted to him which ultimately will add to nation's glory.

Arjuna

Yes, I hope I can carry out the instruction.

Kesawasiddhi

A king must have the character of Samodra (Ocean) which is (i) vast and (ii) kamotkamot (very accommodative). A king must be broad-minded, not narrow in outlook, not to suffer heartbreak even by untoward events. He should always be kamot-kamot, to accommodate every situation and condition. He must be able to put things together to create unity, harmony and feeling of oneness among his people. With all the evil deeds gone, the people at last respect the nation even more.

Arjuna

I hope I will be able to fulfill the task.

Kesawasiddhi

A king must be able to take on the role of Api (Fire) which is (i) to punish him who has done wrong and (ii) to benefit the mankind. A king must apply the law on him who deserves punishment regardless of his identity. This is one side. The other side is that the king should be courageous and his powerful authority should be beneficial to people's safety, happiness and welfare. This will bring prosperity to the nation.

Arjuna

Yes. I will carry out the command of Sang Maharsi.

Kesawasiddhi

A king must play the role Angin (Wind) which is (i) to make an even distribution to every place and (ii) to keep on thinking. A king must follow the principle of even distribution so that everybody has share in the kingdom's prosperity. Even when the people live in remote and inaccessible areas the king should be able to see them. He has to check and re-check everything so that there is no doubt left in decision-making. Further, the King must constantly think of the honour of his people which will bring prosperity, welfare and excellence to the nation.

Arjuna

I feel my heart is as bright as the moonlight. I hope I can fulfill the task and that my wish to care for the world will be granted.

It may be mentioned here in passing that the seeds of the Aṣṭabrata are noticeable in the *Manusmṛti*. In Chapter IX verses 303-311 the said *Smṛti* enjoins upon the king to emulate the energetic action of Indra, the Sun, the Wind, Yama, Varuṇa, the Moon, the Fire and the Earth. Just as Indra sends copious rain during the four months of the rainy season, so should the king shower benefits on his kingdom. Similarly just as the Sun dries water during the eight months from the earth, so should the king draw taxes from his people. Just as Yama at the appointed hour subjects to his rule both friends and foes, so should control the king all his subjects. As a sinner is tied with ropes by Varuṇa so should the king punish the wicked. Like the moon the people should feel happy when they see the king. Like fire he should be wrathful against the criminals. Just as the earth supports all beings he should support his subjects.

As can be seen from the above, what the *Manusmṛti* has said has been adopted with some modification in the Aṣṭabrata. How this came to be connected with Rāma or Kesawasiddhi in Indonesia is a matter for investigation. Obviously these two different traditions in vogue in Indonesia have only one element in common, viz., both recognize it (the Aṣṭabrata) to be a divine revelation though expounded by different divinities.

The Aṣṭabrata is no longer confined now in Indonesia to Wayang performances or to old texts or is meant for kings only. A set of principles of leadership, it has relevance for everybody and is recognized as such by the people who are conversant with it down to a common man who accept it as an inseparable part of the heritage of the country.



